★ जैन न्याय ★ (1)

देवलाली
24·3·2011

प्रश्न 1 :- जैन न्याय क्या है?

उत्तर - जैनधर्म परीक्षाप्रधानी है। जैन न्याय में हमें सत्य-असत्य, खरे-खोटे की परीक्षा करना सिखाया जाता है। सभी मत-मजहब वाले अपने मत को सच्चा और अन्य मत को झूठा कहते हैं। तो सच्चे-झूठे का निर्णय करने का उपाय हमें जैन न्याय में सीखने को मिलता है, उससे हम ठगाये नहीं जा सकते। जिस प्रकार स्वर्ण को भली-भाँति तपाकर, काटकर और कसौटी पर कसकर ही ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार जैन न्याय हमें लक्षण दृष्टि से ही वस्तु तत्व का ग्रहण करना सिखा देता है। प्रयोजनभूत तत्वों का निर्णय बिना उनका स्वरूप (लक्षण) समझे सच्चा नहीं होता। जैन न्याय हमें "लक्षण" का भी सच्चा लक्षण ग्रहण करा कर बतलाता है और उसे "लक्षणा-भास" (सदोष लक्षण) को लक्षण मानने की भ्रान्ति से बचा लेता है।

प्रश्न 2 :- हम सभी जीवों का मूल प्रयोजन तो दुःखों से छूटना है-सुखी होना है; क्या जैन न्याय पढ़ने से दुःखों से छूटा जा सकता है?

उत्तर - जीव के दुःखों का मूलकारण एक अज्ञान-मिथ्याज्ञान ही है। अतः दुःख निवृत्ति का और सच्चे सुख की प्राप्ति का मूलकारण (उपाय) भी एक ज्ञान-सम्यग्ज्ञान ही है। तथा सम्यग्ज्ञान, बिना समीचीन तत्वज्ञान के नहीं होता और समीचीन तत्वज्ञान, बिना जैन न्याय पढ़े-समझे नहीं होता। अतः जैन न्याय को समझना अत्यंत आवश्यक है। वैसे भी हमारे (भारत) देश में न्याय विद्या का प्राचीनकाल से ही बहुत अधिक महत्व माना जाता रहा है। महाकवि कौटिल्य ने लिखा है -

"प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शाश्वदान्वीक्षिकी मता॥"

अर्थः - "आन्वीक्षिकी (न्याय) विद्या शाश्वत काल से ही सर्व विद्याओं का प्रदीप, सर्वकर्मों का उपाय और सर्वधर्मों का आश्रय मानी गई है।"

Contd-2

न्याय विद्या को परीक्षा, अन्वीक्षा, युक्ति, तर्क विद्या, समीक्षा, हेतुविद्या, वाद विद्या, न्याय-नीति, विचार-चिन्तन इत्यादि नामों से भी कहा जाता है।

प्रश्न 3 :- हम अल्पज्ञ जन "सही क्या है, गलत क्या है" ऐसी परीक्षा कैसे कर सकते हैं? यदि अन्यथा परीक्षा हो जाये तो हम क्या करें?

उत्तर — यदि व्यक्ति स्वार्थ व पक्षपात छोड़कर एक वैज्ञानिक की तरह एकदम निष्पक्ष होकर सच्ची विधि से परीक्षा करे तो हम अल्पज्ञ जन भी प्रयोजनभूत तत्त्वों की सच्ची परीक्षा कर सकते हैं। आ० क० पं० टोडरमल जी ने मोक्षमार्गप्रकाशक (पृ० 216) में लिखा ही है कि —

"सच्ची-झूठी दोनों वस्तुओं को कसने से और प्रमाद छोड़कर परीक्षा करने से तो सच्ची ही परीक्षा होती है। जहाँ पक्षपात के कारण भले प्रकार परीक्षा न करे वहाँ अन्यथा परीक्षा होती है।

परीक्षा करने पर जैनमत ही सत्य भासित होता है अन्य नहीं, क्योंकि इसके वक्ता सर्वज्ञ-वीतराग हैं वे अन्यथावादी नहीं हैं।

प्रश्न 4 :- जब जिनेन्द्र भगवान वीतरागी-सर्वज्ञ हैं अन्यथावादी नहीं हैं तो फिर हम उनका उपदेश ज्यों का त्यों मान लें, परीक्षा किसलिये करें?

उत्तर — " परीक्षा किये बिना, आज्ञा प्रधानी बनकर यह तो मानना हो सकता है कि जिनदेव ने ऐसा कहा है सो सत्य है परन्तु उनका भाव अपने को भासित नहीं होगा, तथा भाव भासित हुए बिना निर्मल श्रद्धान नहीं होता। तथा जिसका भाव भासित हुआ होगा तो वह परीक्षा प्रधानी उसे अन्य किसी भी प्रकार से अन्यथा नहीं मानेगा। तथा जैनन्यायग्रन्थों में आज्ञाप्रधानी से परीक्षाप्रधानी को श्रेष्ठ कहा है। अतः प्रयोजनभूत तत्त्वों की परीक्षा एवं हेय-उपादेय-ज्ञेय तत्त्वों की परीक्षा हेतु-तर्क-अनुमान-आगम-युक्ति से अवश्य करना चाहिये।" "प्रमाणनयैरधिगमः" तत्त्वार्थसूत्र में कहा ही है कि तत्त्वों का निश्चय (निर्णय) प्रमाण व नय ज्ञान साधनों से होता है। प्रमाण व नय को युक्ति कहते हैं।

contd 3

प्रश्न-5:- तो हमें जिनेन्द्र देव का पक्ष करना चाहिये क्योंकि वे सर्वज्ञ वीतरागी हैं अन्यथावादी नहीं हैं?

उत्तर :- नहीं, हमें जिनेन्द्र देव का भी पक्ष नहीं करना है बल्कि उनकी भी परीक्षा करने का अधिकार हमको है। आ० हरिभद्रसूरि ने लोकतत्त्व निर्णय ग्रन्थ में कहा है-

पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः॥

अर्थः- "मुझे भ० महावीर जिनेन्द्र से कोई पक्षपात नहीं है और अन्य कपिलादि से कोई द्वेष नहीं है, परन्तु जिसके वचन युक्ति संगत हों उसीका ग्रहण करना चाहिये।" (इसी प्रकार अरहंत देव की सर्वज्ञता की परीक्षा आ० समन्तभद्र ने आप्त-मीमांसा में सत्त के सिद्ध की है।)

प्रश्न 6 :- हमने तो सुना है कि न्यायशास्त्र का ज्ञान तो शास्त्रार्थ या वाद-विवाद के लिये होता है जिसमें स्वमतमण्डन और परमत-खंडन मुख्य होता है, उसका आत्महित या तत्त्वज्ञान से कोई संबंध नहीं है?

उत्तर :- आपकी न्यायशास्त्र के बारे में बिल्कुल गलत धारणा है, क्योंकि न्यायविद्या का असली उद्देश्य समीचीन तत्त्वज्ञान कराना है और तत्पूर्वक सुखी होने का सच्चा उपाय-साधन दर्शाना है जिससे आत्महित सधता है। शास्त्रार्थ या वाद-विवाद या येन-केन प्रकारेण स्वमतमंडन और परमतखंडन करना नहीं है। जैन-न्याय तो सच्चे तत्त्वज्ञान की प्राप्ति का अमोघ मंत्र-उपाय-साधन है।

प्रश्न-7 :- वाद-विवाद और परीक्षा करने में क्या फर्क (अंतर) है?

उत्तर :- वाद-विवाद और परीक्षा ये दोनों पृथक्-पृथक् दो चीजें हैं। दोनों में महान् अन्तर है। वाद-विवाद अनेक दोषों का भण्डार है जबकि परीक्षा अनेक गुणों का अनमोल खजाना है। वाद-विवाद विष है तो परीक्षा अमृत है। वाद-विवाद मोह राग द्वेष में उलझाता है

cont'd. 4

जबकि न्याय-(परीक्षा) हमें मोह-राग-द्वेष से ऊपर उठाकर वस्तु के सत्य स्वरूप का दर्शन कराता है। वाद-विवाद करने वाले का सिद्धान्त होता है- "मेरा सो खरा" (Mine is Truth) जबकि न्याय प्रेमी परीक्षा प्रेमी का सिद्धान्त होता है- "खरा सो मेरा" (Truth is mine)

वस्तुतः वाद-विवाद जितना हेय है, परीक्षा उतनी ही उपादेय है। इसीलिये कुन्द कुन्दाचार्य नियमसार गाथा-156 में लिखते हैं-

"णाणाजीवा णाणाकम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
तम्हा वयणविवादं सगपरसमएहिं वज्जिज्जो॥

अर्थः- नाना प्रकार के जीव हैं, नाना प्रकार के कर्म हैं, नाना प्रकार की लब्धियाँ हैं, अतः स्वसमय-परसमयों के साथ वचन-विवाद नहीं करना चाहिये।

वाद-विवाद करने वाले की दृष्टि जय-पराजय पर ही होती है जबकि न्याय प्रिय-परीक्षा प्रधानी की दृष्टि निरन्तर सत्यानुसंधान एवं सत्यप्राप्ति में ही लगी रहती है। इसी लिये कहा है-

- "खोजी जीवै वादी मरै, सांची कहवत है।"
- "सद्गुरु कहै सहज का चंधा, वाद-विवाद करै सो अंधा॥

★ वाद-विवाद कलह प्रिय लोगों को अच्छा लगता है जबकि परीक्षा करना तो न्याय-प्रिय — शांति प्रिय सत्यान्वेषी लोग पसन्द करते हैं।

प्रश्न-8: सत्य-असत्य की परीक्षा करना तो हमारे लिये बहुत कठिन है क्योंकि धर्म के विषय में किसी भी प्रश्न के अनेक उत्तर पाये जाते हैं?

उत्तर:- परीक्षा करना कठिन अवश्य है परन्तु असंभव नहीं है। फिर किसी भी प्रश्न के असत्य उत्तर तो अनेक होते हैं, किन्तु सत्य उत्तर तो एक ही होता है। विरुद्ध नाना युक्तियों की प्रबलता और दुर्बलता का निर्णय करने के लिये प्रवृत्त हुए ज्ञान को-विचार को परीक्षा कहते हैं। प्रमाण और नयों के द्वारा वस्तु स्वरूप को जानना ही न्याय कहलाता है।

(Contd. 5)

प्रश्न 9 :- शास्त्रों में तो यत्र-तत्र लिखा है कि -

"अंतो णत्थि सुईणं कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खयं कुणदि॥" (पाहुडदोहा)

अर्थ :- "शास्त्रों का अन्त नहीं (अर्थात् शास्त्र तो बहुत हैं अनेक प्रकार के हैं), समय कम है (अर्थात् मनुष्यायु अल्प है) और हम दुर्बुद्धि (मंदबुद्धि) हैं, अतः केवल वही सीखना चाहिये जो जन्म-जरा-मरण का क्षय कर दे।"

फिर आप हमें न्यायशास्त्रों को पढ़ने की प्रेरणा क्यों दे रहे हैं?

उत्तर :- आप इस गाथा का मर्म नहीं समझे, आप बड़े भ्रम में हैं, क्योंकि न्याय का ज्ञान तो इसीलिये आवश्यक बताया गया है कि कम समय में हम अल्पबुद्धि वस्तु स्वरूप का यथार्थ ज्ञान - सम्यग्ज्ञान प्रगट कर सुखी हो सके। वस्तु स्वरूप अत्यंत जटिल है, अनन्त धर्मात्मक है उसे परीक्षाप्रधानी होकर ही समझा जा सकता है। जैन न्याय एक ऐसी सुलभ विधि है कि अल्पबुद्धि भी उसके द्वारा अनन्त धर्मात्मक वस्तु के स्वरूप को अल्प समय में भलीभांति समझ सकते हैं।

न्याय के अवलम्बन से वस्तुस्वरूप को समझकर स्वानुभूति रूप निश्चय सम्यक्त्व प्राप्त करना सरल होता है। जैसे लोक में किलोग्राम, मीटर, तराजू-बाँट, आदि पैमानों द्वारा हम बाह्य जड़ पदार्थों का ठीक-ठीक नापने-मापने का काम कर लेते हैं, उसी प्रकार जैन न्याय वर्णित परीक्षण पद्धति द्वारा हम अन्तरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्य पदार्थ का ~~सही~~ प्रमाण-नय साधनों द्वारा यथार्थ स्वरूप समझकर, ज्ञान के विषय, साधन व फल को भलीभाँति समझ सकते हैं तथा सामान्य तत्त्व ज्ञान पूर्वक आत्मध्यान रूप प्रयोग पद्धति अपनाकर स्वानुभव रूप निश्चय सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं।

(contd. 6)

तत्वज्ञान तरंगिणी अध्यात्म ग्रन्थ में कहा है कि गणित, चिकित्सा, कुतर्क (वाद-विवाद), पुराण, वास्तु, शब्द और संगीत के शास्त्रों में निपुण लोग तो आसानी से मिल जाते हैं, परन्तु तत्व के ज्ञाता पुरुष मिलना बहुत कठिन हैं। तात्पर्य यह है कि पुरुषों की जो बहत्तर कलायें कही हैं उनमें प्रवर पण्डित तो बहुत मिल जायेंगे परन्तु वे धर्मकला को नहीं जानते हैं अतः वे अपण्डित ही हैं। जैन न्याय विद्या इस जगत की अप्रयोजनभूत विद्याओं में से एक नहीं है अपितु जीवों के मुक्तिमार्ग को प्रशस्त करने वाली अत्यधिक प्रयोजनभूत विद्या है। अतः सच्चे आत्मार्थी जीव को थोड़ा-बहुत अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिये न्याय का ज्ञान अवश्य करना चाहिये।

प्रश्न 10 :- अब हमारी आयु का बहु भाग तो बीत चुका है और जो अल्पायु शेष बची है उसमें अध्यात्म-ग्रन्थों - समयसार, प्रवचनसारादिका ही अभ्यास करने के बदले न्याय ग्रन्थों के पढ़ने में समय देना कहाँ तक उचित है? हमें न्यायाचार्य थोड़े ही बनना है।

उत्तर :- आपको विदित हो कि सभी अध्यात्म-ग्रन्थ (द्रव्यानुयोगादि चारों अनुयोगों के ग्रन्थ) न्याय की भाषा में ही लिखे गये हैं। जैसे किसी भी भाषा का ज्ञान बिना उसके नियमों - व्याकरणादि के ज्ञान बिना संभव नहीं होता, ठीक उसी प्रकार अध्यात्म ग्रन्थों का भी मर्म समझने के लिये हमें कम से कम न्याय का सामान्य ज्ञान तो अवश्य होना चाहिये। क्योंकि समय-सारादि द्रव्यानुयोग के ग्रन्थों में ही न्यायशास्त्रों की पद्धति मुख्य होती है और उनमें भी तत्व निर्णय करने (एवं स्वानुभूति रूप स्वसंवेदन ज्ञान प्रगट करने) का प्रयोजन ही मुख्य होता है। समयसार आत्मख्याति टीका, प्रवचनसार - तत्वप्रदीपिका टीका पूर्णतः न्याय शैली से ओत प्रोत हैं। समयसार गाथा-18 की टीका में रत्नत्रय की सिद्धि में "अन्यथानुपपत्ति बलवान हेतु का प्रयोग किया है (और गाथा 265 की टीका में अनैकान्तिक हेत्वाभास का प्रयोग किया है) यदि हमें रत्नत्रय प्रगट करना है तो इसहेतु (और हेत्वाभास) को जानना होगा कि जिसके बिना मोक्षमार्ग एवं मोक्ष प्राप्त नहीं होता।

(contd. 7.)

Devlali
25.3.2011

जैन न्याय में तत्त्वार्थों को जानने के साधनों (उपायों) की ही तो बात कही है यहाँ तक कि पं. गोपालदास बरैयाजी द्वारा लिखित "जैन सिद्धान्त प्रवेशिका" में, जो कि जिनागम का प्रवेश द्वार है, पाँचवें अध्याय में जैन न्याय अर्थात् पदार्थों को जानने के उपायों का ही संक्षेप में वर्णन किया है और वह सब न्याय-दीपिका, परीक्षामुख, प्रमाण-मीमांसा आदि सरल-सुबोध न्याय ग्रन्थों के आधार से ही लिखा गया है। यदि आपको लगता है कि अल्प आयु ही बची है, तो "जैन सिद्धान्त प्रवेशिका" में वर्णित जानने के उपायों (लक्षण, प्रमाण, नय, निक्षेप) को ही पढ़ लीजिये और अपने ज्ञान को प्रमाणिक बना लीजिये; परन्तु न्याय के पढ़ने का निषेध तो नहीं करें। अपने भीतर पल रहे अज्ञान-मिथ्याज्ञान रूपी अन्याय का अभाव तो प्रमाण ज्ञान-सम्यग्ज्ञान रूपी न्याय नेत्र द्वारा ही किया जा सकता है। इतना तो न्याय कीजिये। लौकिक में ज़रा सा भी अन्याय बर्दास्त नहीं करते हो और नारे लगाते हुए निकल पड़ते हो कि "We want Justice". तो फिर मिथ्याज्ञान रूपी अन्याय को क्यों बर्दास्त कर रहे हो। अन्तर्मुहूर्त मात्र समय में यह अन्याय दूर किया जा सकता है, मात्र कमर कसने की देरी है।

न्यायाचार्य उपाधि तो बड़े न्याय-ग्रन्थों (प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री, श्लोकवार्तिक आदि) के अभ्यास से, परीक्षा पास करने से प्राप्त की जाती है। आप अपने अनादिकालीन अन्याय को मिटाकर सच्चे आत्मज्ञानी न्यायाचार्य बनिये, मात्र उपाधि धारी न्यायाचार्य मत बनिये।

प्रश्न-11 "न्यायशास्त्रों में से हमें किन-किन मूल विषयों का अध्ययन करना जरूरी है?

उत्तर :- लक्षण-लक्षणाभास, साधन-साधनाभास, हेतु-हेत्वाभास, प्रमाण एवं प्रमाणाभास अर्थात् सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान के लक्षणों का, प्रमाण के भेदों (प्रत्यक्ष-परोक्ष) का, प्रमाण के विषय का, प्रमाण के फल-अज्ञान की निवृत्ति आदि का जानना जरूरी है।

contd. 8

इन विषयों का वर्णन न्याय-दीपिका, परीक्षामुख/आप्त-मीमांसा आदि न्याय ग्रन्थों में है। ये लघुकाय ग्रन्थ हैं तथापि समस्त जैन शासन को समझने की कुंजी है। मुनिवर वीरसागर जी (1940-1993 ई०) द्वारा विरचित "अध्यात्म न्याय-दीपिका" विशेष रूप से अध्ययन करने योग्य है।

प्रश्न-12:- आध्यात्मिक सत्पुरुष श्री कानजी स्वामी ने तो किसी भी न्याय-शास्त्र पर कभी भी प्रवचन नहीं किये तो फिर हमें न्याय शास्त्रों के पढ़ने की क्या आवश्यकता है?

उत्तर:- यह बात सत्य है कि आत्मज्ञ संत श्री कानजी स्वामी ने न्याय-शास्त्र पर प्रवचन नहीं किये, तथापि उनके प्रवचनों में बिना न्याय (logic तर्क) के एक भी कथन नहीं मिलेगा। प्रमाण के लिये आप 'गुरु कहान दृष्टि महान' (1/76) में देखें जिसमें उन्होंने 'आप्त-मीमांसा' का उल्लेख किया है। इसमें अरिहंत देव ही सर्वज्ञ हैं- ऐसा अनुमान प्रमाण ज्ञान से सिद्ध किया गया है। इसी तरह उनके प्रवचनों में परीक्षामुख/तत्त्वार्थ राजवार्तिक आदि अनेक न्याय ग्रन्थों का जिक्र आता ही है। उनके सम्प्रदाय-मत परिवर्तन का कारण भी जैन-न्याय ही था जिसमें पूर्वापर विरोध रहित वस्तुस्वरूप का पक्षपात रहित निर्णय परीक्षा प्रधानी बनकर कराया गया है, क्योंकि दिगम्बर जैन धर्म कोई सम्प्रदाय या बाड़ा नहीं है वस्तु का यथार्थ स्वरूप दर्शाता है। विशेष बात यह भी जानने की है कि सर्व ही न्याय-ग्रन्थों का आधार "प्रमाण नयैरधिगमः"- तत्त्वार्थ सूत्र का यह प्रथम अध्याय का छट्ठवाँ सूत्र है।

N.B:- मुझे न्याय ग्रन्थों के अध्ययन से अध्यात्म ग्रन्थों के रहस्य समझने में बहुत मदद मिली है। इसी विचार से इस वर्ष प्रथमबार देवलाली में "जैन अध्यात्म न्याय शिविर" का आयोजन दि० 2 जून से 6 जून तक रखा गया है। cont'd.9

शेष क्षेम, (25-2-11 देवलाली) ब्र० हेमचन्द जैन 'हेम'

Devlali 26·3·2011

★ जैन न्याय का संक्षिप्त इतिहास ★

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व जब बौद्ध विद्वानों– दिङ्नाग, धर्मकीर्ति ने एवं मीमांसक विद्वान् कुमारिल भट्ट, शंकराचार्य आदि ने जैनदर्शन की आलोचना में अनेक ग्रन्थ लिखे तब उनके खंडन में तथा जिनमत के मंडन में एवं सच्चे जिनेन्द्र मत की संस्थापना में आ० समन्तभद्र (120–185 ई०) ने आप्त-मीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयंभूस्तोत्र आदि ग्रन्थों की रचना की। आप्त-मीमांसा जैन न्याय का आद्य ग्रन्थ नींव के पत्थर के समान है जो वस्तु के अनन्त धर्मात्मक स्वभाव की एवं अरिहंत देव के सर्वज्ञत्व की सिद्धि करता चला आ रहा है। न्याय की मीमांसा में आ० अकलंकदेव (620–680 ई०) जैनन्याय के प्रस्थापक आचार्य कहे जाते हैं, क्योंकि, जब बौद्ध व मीमांसक विद्वानों ने सर्वज्ञ सिद्धि को गलत बतलाना प्रारंभ कर दिया, तब आ० अकलंकदेव ने उनका जोरदार तार्किक शैली में "अष्टशती"–(आप्त-मीमांसा की टीका) लिखकर निराकरण कर दिया और सच्चे जिनमत के शाश्वत सिद्धान्तों की स्थापना की।

पश्चात् आ० विद्यानन्द (775–840 ई०) ने "अष्ट-सहस्री" (अष्टशती की टीका) लिखकर जैन-न्याय को अत्यधिक मजबूती प्रदान कर अमर कर दिया। इसी प्रकार आचार्य माणिक्यनन्दि (1003–1028 ई०) ने तत्त्वार्थसूत्र की तरह जैन-न्याय को सूत्रों में निबद्ध कर "परीक्षामुख" ग्रन्थ की अद्भुत रचना कर दी और जैन-न्याय को अमरत्व प्रदान कर दिया। इस 'परीक्षामुख' पर आ० लघु अनन्तवीर्य ने (12 वीं ई० शताब्दी में) "प्रमेय रत्नमाला" और आ० प्रभाचन्द्र (950–1020 ई०) ने "प्रमेयकमल मार्तण्ड" एक विस्तृत टीका ग्रंथ लिखा। पश्चात् 'धर्मभूषणयति' (1298–1323 ई०) ने "न्यायदीपिका" की रचनाकर हमारी जिन-प्रणीत तत्त्वार्थों की श्रद्धा को मजबूती प्रदान कर अटल-अचल बना दिया।

वर्तमानकाल में मुनिवर वीरसागरजी सोलापुर (1940–1993 ई०) ने न्याय-दीपिका के माध्यम से आत्मानुभूति प्रगट करलेने की कला को "अध्यात्म न्यायदीपिका" नामक सचित्र-विस्तृत हिन्दी भावानुवाद रूप टीका द्वारा एवं "प्रमाणनयैरधिगमः" सूत्राधारित चार्ट नं० 7 एवं चार्ट नं० 20 के माध्यम से भलीभाँति समझा दिया है जो तत्त्व रसिक आत्मार्थी बन्धुओं को बहुत उपयोगी सिद्ध हो रही है।

— ब्र० हेमचन्द्र जैन 'हेम'
26·3·2011